श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता सप्तदशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)
सप्तदशोऽध्याय:

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य, यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां(न्) निष्ठा तु का कृष्ण, सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ 1॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र विधि को त्यागकर श्रद्धा से युक्त हुए देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी?

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा, देहिनां(म्) सा स्वभावजा।

सात्त्विकी राजसी चैव, तामसी चेति तां(म्) श्रृणु ॥ 2॥

श्री भगवान् बोले- मनुष्यों की वह शास्त्रीय संस्कारों से रहित केवल स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी- ऐसे तीनों प्रकार की ही होती है। उसको तू मुझसे सुन ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य, श्रद्धा भवति भारत।

श्रद्धामयोऽयं(म्) पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः(स्) स एव सः ॥ 3॥

हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है ।

यजन्ते सात्त्विका देवान्- यक्षरक्षां(म्)सि राजसाः।

प्रेतान्भूतगणां(म्)श्चान्ये, यजन्ते तामसा जनाः ॥ 4॥

सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं ।

अशास्त्रविहितं(ङ्)घोरं(न्), तप्यन्ते ये तपो जनाः।

दम्भाहङ्कारसं(यँ)युक्ताः(ख्), कामरागबलान्विताः ॥ 5॥

जो मनुष्य शास्त्र विधि से रहित केवल मनःकल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं ।

कर्शयन्तः(श्) शरीरस्थं(म्), भूतग्राममचेतसः।

मां(ञ्) चैवान्तः(श्)शरीरस्थं(न्), तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ 6॥

जो शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुर स्वभाव वाले जान ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य, त्रिविधो भवति प्रियः।

यज्ञस्तपस्तथा दानं(न्), तेषां(म्) भेदमिमं(म्) श्रृणु ॥ 7॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेद को तू मुझ से सुन।

आयुः(स्) सत्त्वबलारोग्य- सुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः(स्) स्निग्धाः(स्) स्थिरा हृद्या, आहाराः(स्) सात्त्विकप्रियाः ॥ 8॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय- ऐसे आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्ण- तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा, दुःखशोकामयप्रदाः ॥ 9॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ।

यातयामं(ङ्) गतरसं(म्), पूति पर्युषितं(ञ्) च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं(म्), भोजनं(न्) तामसप्रियम् ॥ 10॥

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है ।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो, विधिदृष्टो य इज्यते।

यष्टव्यमेवेति मनः(स्), समाधाय स सात्त्विकः ॥ 11॥

जो शास्त्र विधि से नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है- इस प्रकार मन को समाधान करके, फल न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है ।

अभिसन्धाय तु फलं(न्), दम्भार्थमपि चैव यत्।

इज्यते भरतश्रेष्ठ, तं(यँ) यज्ञं(वँ) विद्धि राजसम् ॥ 12॥

परन्तु हे अर्जुन! केवल दम्भाचरण के लिए अथवा फल को भी दृष्टि में रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान ।

विधिहीनमसृष्टान्नं(म्), मन्त्रहीनमदक्षिणम्।

श्रद्धाविरहितं(यँ) यज्ञं(न्), तामसं(म्) परिचक्षते ॥ 13॥

शास्त्रविधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किए जाने वाले यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञ- पूजनं(म्) शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिं(म्)सा च, शारीरं(न्) तप उच्यते ॥ 14॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा- यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है ।

अनुद्वेगकरं(वँ) वाक्यं(म्), सत्यं(म्) प्रियहितं(ञ्) च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं(ञ्) चैव, वाङ्मयं(न्) तप उच्यते ॥ 15॥

जो उद्वेग न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के नाम-जप का अभ्यास है- वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है ।

मनः(फ्) प्रसादः(स्) सौम्यत्वं(म्), मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसं(म्)शुद्धिरित्येतत्- तपो मानसमुच्यते ॥ 16॥

मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भलीभाँति पवित्रता, इस प्रकार यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है ।

श्रद्धया परया तप्तं(न्), तपस्तत्त्रिविधं(न्) नरैः।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः(स्), सात्त्विकं(म्) परिचक्षते ॥ 17॥

फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किए हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं ।

सत्कारमानपूजार्थं(न्), तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं(म्), राजसं(ञ्) चलमध्रुवम् ॥ 18॥

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए भी स्वभाव से या पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ।

मूढग्राहेणात्मनो यत्-पीडया क्रियते तपः।

परस्योत्सादनार्थं(वँ) वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 19॥

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है- वह तप तामस कहा गया है ।

दातव्यमिति यद्दानं(न्), दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च, तद्दानं(म्) सात्त्विकं(म्) स्मृतम् ॥ 20॥

दान देना ही कर्तव्य है- ऐसे भाव से जो दान देश तथा काल और पात्र के प्राप्त होने पर उपकार न करने वाले के प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं(म्), फलमुद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिक्लिष्टं(न्), तद्दानं(म्) राजसं(म्) स्मृतम् ॥ 21॥

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ।

अदेशकाले यद्दान- मपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं(न्), तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 22॥

जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-काल में और कुपात्र के प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः(स्) स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः(फ्) पुरा ॥ 23॥

ॐ, तत्, सत्-ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है, उसी से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गए ।

तस्मादोमित्युदाहृत्य, यज्ञदानतपः(ख्)क्रियाः।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः(स्), सततं(म्) ब्रह्मवादिनाम् ॥ 24॥

इसलिए वेद-मन्त्रों का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा ॐ इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ।

तदित्यनभिसन्धाय, फलं(यँ) यज्ञतपः(ख्) क्रियाः।

दानक्रियाश्च विविधाः(ख्), क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ 25॥

तत् अर्थात् तत् नाम से कहे जाने वाले परमात्मा का ही यह सब है- इस भाव से फल को न चाहकर नाना प्रकार के यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याण की इच्छा वाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं ।

सद्भावे साधुभावे च, सदित्येतत्प्रयुज्यते।

प्रशस्ते कर्मणि तथा, सच्छब्दः(फ्) पार्थ युज्यते ॥ 26॥

सत्- इस प्रकार यह परमात्मा का नाम सत्यभाव में और श्रेष्ठभाव में प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

यज्ञे तपसि दाने च, स्थितिः(स्) सदिति चोच्यते।

कर्म चैव तदर्थीयं(म्), सदित्येवाभिधीयते ॥ 27॥

तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी सत् इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्मा के लिए किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्-ऐसे कहा जाता है ।

अश्रद्धया हुतं(न्) दत्तं(न्), तपस्तप्तं(ङ्) कृतं(ञ्) च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ, न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ 28॥

हे अर्जुन! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है- वह समस्त असत्- इस प्रकार कहा जाता है, इसलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के बाद ही ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे

श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुद*च्यते
पूर्ण*स्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशि*ष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।